इतिहास

न उनकी जीत अन्तिम है, न अपनी हार अन्तिम है!

1 सितम्बर, 1939 को पोलैण्ड पर फ़ासीवादी हमले ने मानव इतिहास के सबसे विनाशकारी पन्ने को खोल दिया था। साम्राज्यवाद-पूँजीवाद के आन्तरिक संकट के दौर में तेज़ी से उभरता फ़ासीवाद, आने वाले समय में पूरी दुनिया के सामने अनेक चुनौतियाँ लिए खड़ा था। अपने देशों के पूँजीपतियों की आर्थिक मदद के दम पर फ़ासीवादियों ने आबादी के एक भारी हिस्से को प्रभाव में ले लिया था। 1929 में शुरू हुई आर्थिक महामन्दी ने न सिर्फ़ साम्राज्यवादी ताक़तों के आपसी अन्तरविरोधों को और तीखा किया बल्कि खुद जर्मनी, इटली आदि देशों में बेरोज़गार नौजवानों, छोटे पूँजीपतियों, दुकानदारों और असन्तुष्ट मध्यवर्गीय आबादी की एक भारी तादाद पैदा कर दी थी। इसी आबादी को 'उज्जवल भविष्य', 'दुनिया पर राज', 'राष्ट्रीय गौरव', 'प्रथम विश्व युद्ध में हार का बदला' के सपने दिखा और 'राष्ट्रवाद-नस्लवाद' का ज़हर घोलकर फ़ासिस्ट ताक़तों ने उन्नत हथियारों व युद्ध मशीनरी से लैस एक विशाल और बर्बर सेना खड़ी की।

'धुरी' ताक़तों ने यूरोप पर जर्मनी, अफ़्रीका पर इटली व एशिया पर जापान के क़ब्ज़े की योजना बनायी। द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू होने के पूर्व ही जर्मनी ने चेकोस्लोवाकिया, फ़्रांस, फ़िनलैण्ड और पूर्वी यूरोपीय देशों में अपनी सैन्य टुकड़ियों को भेज प्राकृतिक संसाधनों और सैन्य दस्तों पर क़ब्ज़ा कर लिया था। फ़ासीवाद के तेज़ी से बढ़ते क़दमों और उनके द्वारा पहुँचाये गये इन्सानी ज़िन्दगियों, प्राकृतिक संसाधनों एवं सम्पत्ति के नुक़सान को देखते हुए हिटलर द्वारा विश्व पर क़ब्ज़ा करने की सम्भावनाएँ ज़ोर पकड़ रही थीं। इसी विनाश को देख स्तालिन ने रूसी सेना को बर्लिन भेजने का प्रस्ताव रखा था अगर अमेरिका और ब्रिटेन पूर्वी यूरोप में नात्सी सेना को चुनौती देकर कमज़ोर करें। लेकिन इस प्रस्ताव को अनसुना कर दिया गया और इसका नतीजा मानव इतिहास का एक बेहद विनाशकारी और मानवद्रोही हिस्सा बन गया है। रूस को अपनी हिफ़ाज़त की तैयारी के लिए के समय चाहिए था इसलिए 1939 जर्मनी के साथ शान्ति सन्धि भी करनी पड़ी लेकिन सोवियत रूस पर फ़ासीवादी हमला निकट भविष्य में नजर आ रहा था। मिले हुए थोड़े से समय में स्तालिन ने फ़ासीवाद को चुनौती देने के लिए जनता को संगठित करना शुरू कर दिया।

22 जून 1941 की रात को जर्मनी, इटली, हंगरी आदि के लगभग 50 लाख सैन्य बलों ने सोवियत रूस की 4,500 कि.मी. लम्बी सीमा पर हमला बोला। इतिहास के सबसे बड़े हमले में सोवियत सेना को पीछे हटना पड़ा। एक साल के अन्दर-अन्दर फ़ासीवादी सेनाएँ रूस के भीतर तक फैल गयीं। रास्ते में आये तमाम नगर, गाँव, उद्योगों को साफ़ कर दिया गया। लेकिन रूस पर क़ब्ज़ा करते हुए, स्तालिनग्राद के रास्ते एशिया में प्रवेश करने का सपना बहुत समय तक टिक न सका।

हिटलर की कुल 250 डिवीजनों में से 200 से भी अधिक डिवीजनों का अकेले सामना करते हुए सोवियत जनता ने आख़िरकार 1943 के मध्य में स्तालिनग्राद को मुक्त करा लिया। इसके बाद एक-एक कर नात्सी सेना को युद्धों में परास्त कर न सिर्फ़ रूस को मुक्त कराया बल्कि 1944-45 तक पोलेण्ड, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, रोमानिया, आस्ट्रिया व पूर्वी यूरोप के देशों से भी फ़ासीवादियों को खदेड़ दिया।

द्वितीय विश्व युद्ध के अंत तक, सोवियत रूस ने किसी भी देश से अधिक नुक़सान उठाया। क़रीब 1.4 करोड़ सोवियत सैनिक युद्ध में शहीद हो गये। जो कि अमेरिका, ब्रिटेन और फ़्रांस द्वारा खोये गये सैनिकों की संख्या से 16 गुना से भी अधिक है। एक करोड़ से भी अधिक सोवियत जनता ने फ़ासीवादी हमलों में जान गँवा दी। आधे से भी अधिक औद्योगिक उत्पादन युद्ध में ख़र्च हो गया। हज़ारों गाँव, शहर, उद्योग और फसलें उजाड़ दी गईं। लेकिन सोवियत संघ ने इतनी भारी क़ीमत चुकाकर आख़िरकार दुनिया को भयंकर तबाही से बचा लिया। फ़ासीवादियों की योजनाओं में लिखी करोड़ों लोगों की ज़िन्दगियों और ख़रबों रुपये की सम्पत्ति और प्राकृतिक संसाधनों की बरबादी से बचा लिया गया। यदि ऐसा न होता तो शायद आज दुनिया की तस्वीर कुछ और ही होती।

द्वितीय विश्वयुद्ध में सोवियत रूस की ज़मीन पर फ़ासीवाद की हार कोई आकस्मिक घटना नहीं है। हर ऐतिहासिक घटना की तरह, इसके भी सामाजिक कारण हैं। फ़ासीवाद के विरुद्ध संघर्षरत देशों में सोवियत रूस ही एक ऐसा देश था जहाँ पर आर्थिक-सामाजिक ढाँचे पर चन्द पूँजीपतियों-ज़मीदारों का क़ब्ज़ा नहीं था। 1917 की समाजवादी क्रान्ति के बाद रूस ने समस्त उद्योगों व ज़मीनों के राष्ट्रीकरण की ओर क़दम उठाने शुरू किये। पिछड़ी उत्पादक शक्तियों वाले एक देश में औद्योगिक ढाँचे को खड़ा करने से लेकर कृषि के सामूहिकीकरण-राष्ट्रीयकरण में आई दिक़्क़तों का सामना करते हुए, अपने देश की मेहनतकश जनता के दम पर रूस बेरोज़गारी, कुपोषण, शोषण, वेश्यावृत्ति आदि सामाजिक बीमारियों को ख़त्म करने में सफल रहा।

विश्वयुद्ध से पूर्व सोवियत रूस ने 200 प्रतिशत से भी

अधिक औद्योगिक विकास दर्ज किया। एक ऐसे देश में जहाँ आर्थिक-सामाजिक ढाँचा मुनाफ़े के बजाय लोगों की ज़िन्दगी को बेहतर और अधिक विविधतापूर्ण बनाने पर केन्द्रित था, वहाँ लोग अपनी मेहनत को अपनी ज़िन्दगी देश और समाज में रूपान्तरित होते देख सकते थे।

केवल एक ऐसे देश की जनता ही इतनी भारी क़ुर्बानियाँ देकर अपनी धरती व समस्त मानवता की रक्षा करने का जज़्बा और माद्दा रख सकती थी। युद्ध के दौरान सोवियत जनता ने आर्थिक ढाँचे ख़ासकर भारी उद्योगों को सँभाल कर संघर्षरत सोवियत सेना को कोई कमी नहीं आने दी। अपनी मेहनत से सींचे व निर्मित किये गये सोवियत राज्य की रक्षा करने के लिए छात्रों-नौजवानों, महिलाओं, मज़दूरों, किसानों द्वारा दी गयी क़ुर्बानियों के चित्रण और वीर गाथाएं अक्सर रूसी उपन्यासों में भी मिल जाया करते हैं। अतीत को बदलना तो इन्सानी सीमाओं से बाहर है, लेकिन इतिहास की एक झूठी तस्वीर पेश करने और स्मृतियों को नज़रों से ओझल करने के हरसम्भव प्रयास पूँजीवाद करता रहा है। द्वितीय विश्वयुद्ध के इतिहास और सोवियत योगदान को लेकर भी कुछ ऐसा ही रूख देखने को मिलता है। अमेरिका द्वारा लम्बे समय से, फैलायी जा रही धारणा के अनुसार फ़ासीवाद को हराने में सबसे निर्णायक भूमिका 1944 में खोले गये ब्रिटेन-अमेरिका के दूसरे मोर्चे की थी। फ़ासीवाद पर विजय के 65 साल पूरे होने पर हाल ही में फ़्रांस में एक समारोह आयोजित किया गया। अपने वक्तव्यों में फ़्रांस के राष्ट्रपति निकोलस सरकोज़ी, ब्रिटेन के गार्डन ब्राउन और कनाडा के स्टीफ़न हार्थर ने सोवियत रूस का नाम भी न लेते हुए द्वितीय विश्वयुद्ध का एक लम्बा इतिहास पेश कर दिया। ओबामा भी महज़ इतना कहकर पीछे हट गये कि सोवियत रूस ने फ़ासीवाद विरोधी मोर्चे का कुछ भार तो उठाया लेकिन हिटलर को हराने का श्रेय तो पश्चिमी ताक़तों के दूसरे मोर्चे को ही जाता है, जिसके कारण नात्सी सेना दो मोर्चों पर बँटकर कमज़ोर पड़ गयी। वैसे इस प्रकार की धारणाऐं अमेरिका व कई अन्य पूँजीवादी देशों के पाठ्यक्रमों में भी प्रचलित हैं। सच तो यह है कि 1944 में दूसरा मोर्चा खुलने तक सोवियत फ़ौजों ने अकेले दम पर हिटलर को यूरोप से पीछे धकेल इतना कमज़ोर कर दिया था कि अमेरिकी-ब्रिटिश हस्तक्षेप के बिना भी फ़ासीवाद की हार तय थी। लम्बे समय से दूसरा मोर्चा खोलने के स्तालिन के प्रस्ताव को अनसुना करने के पीछे का मक़सद सोवियत रूस को युद्ध में नुक़सान उठाकर अधिक से अधिक कमज़ोर करना था। ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री चर्चिल ने एक पुस्तक में माना है कि दूसरे मोर्चे को देरी से खोलने का मक़सद यूरोप में समाजवाद को फैलने से रोकना था।

इतिहास को तोड़ने-मरोड़ने में भूतपूर्व समाजवादी पूर्वी यूरोपीय देश भी पीछे नहीं हैं। यहाँ मीडिया और पाठ्यक्रमों में इतिहास की नयी व्याख्याएँ पेश की जा रही हैं। दुनिया को फ़ासीवाद से मुक्त कराने और समाजवादी दौर की प्रगति को भुलाकर आज सोवियत सैनिकों के युद्ध स्मारकों को गिराया जा रहा है। फ़ासीवादी सेना के मददगारों को यूक्रेन व बाल्टिक राज्यों में 'वॉर वेटरन' सम्मान प्राप्त हो रहा है। पूँजीवादी देशों ने बुद्धिजीवियों की पूरी फ़ौज को भी इतिहास के पुनः लेखन का काम सौंप दिया है।

हर शोषक निज़ाम सच्चाई से डरता है। इतिहास और विज्ञान को तोड़मरोड़ कर पेश कर पूँजीवाद अपने अस्तित्व का बार-बार औचित्य साबित करता रहा है। शहादतों को जनता की स्मृति पटल से ओझल करना भारतीय पूँजीवाद की भी पुरानी आदत रही है।

लेकिन बुद्धिजीवियों द्वारा फैलाई गई धुन्ध मीडिया के दुष्प्रचार के बावजूद सच्चाई पर पूरा परदा नहीं डाला जा सकती। शोषक वर्गों की लाख कोशिशों के बाद भी सोवियत जनता की क़ुर्बानियाँ आज दुनियाभर के मेहनतकश व क्रान्तिकारी शक्तियों के लिए प्रेरणास्रोत बनी हुई हैं। मानव सभ्यता को बचाने और आगे ले जाने के सोवियत शहीदों को श्रद्धांजलि देने के साथ ही हम अपने देश के छात्रों-नौजवानों व मज़दूरों को हिटलर-मुसोलनी की देशी जारज औलादों और फ़ासीवाद के नये रूपों के ख़िलाफ़ आज से संगठित होने का आह्वान भी करते हैं।

– **कुणाल**

थ्री इडियट्स...

(पृष्ठ 57 से आगे)

(कंसेप्चुअलाइज़ेशन) दे सकते हैं और व्याख्यायित कर सकते हैं, जिसकी कल्पना *शायद* कहानीकार, पटकथा-लेखक, निर्देशक और आमिर ख़ान जैसे सचेत कलाकार ने न की हो!

लेकिन यह प्रमुख मुद्दा नहीं है। मुख्य बात यह है कि कुल मिलाकर यह फ़िल्म शिक्षा व्यवस्था की एक सुधारवादी आलोचना करती है और वह भी बिना किसी ऑपरेटिव पार्ट के। इसका लक्षित दर्शक वर्ग उच्च वर्ग, उच्च मध्यम वर्ग और उच्च वर्ग की हैसियत हासिल करने का सपना पाले आम और निम्न मध्यम वर्ग के लोग हैं। इसकी पहुँच किसी भी रूप में इस देश के आम ग़रीब लोगों तक नहीं है। इसमें कुछ भी ऐसा नहीं है जिससे इस देश की 85 फ़ीसदी आबादी कोई जुड़ाव महसूस करे। अपनी इस सुधारवादी आलोचना के ज़रिये यह फ़िल्म वही बात करती है जो राजनीतिक मंचों से कपिल सिब्बल करते हैं। इसका कार्य (अगर मकसद नहीं तो) इस व्यवस्था के सांस्कृतिक और वैचारिक वर्चस्व को उन वर्गों के नौजवानों के दिमाग़ में मज़बूत करना है जिन वर्गों के नौजवान इस व्यवस्था को आमूल रूप से बदलने और उसके लिए आम मेहनतकश वर्गों के संघर्ष के साथ जुड़ने के बारे में सोच सकते हैं। इसके और ऐसी तमाम फ़िल्मों के बारे में आलोचनात्मक रूप से सोचना आज बेहद ज़रूरी है क्योंकि इस व्यवस्था के वैचारिक-सांस्कृतिक वर्चस्व का विखण्डन इसके बग़ैर नहीं हो सकता।